P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-6, ISSUE-4, May- Supplementary Issue - 2018
E: ISSN No. 2349-9435 Periodic Research

समाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि

पिताम्बर दास जाटव,
असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

सारांश

दार्शनिक दृष्टि से समाज की उत्पत्ति मानव के स्वभाव से हुई है और मानव स्वभाव की उत्पत्ति में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जगत् अर्थात जड़ जगत्, वनस्पति जगत्, पशु जगत् के स्वभाव और मानव की अपनी विवेकशलता से उत्पन्न स्वभाव का सहयोग होता है। मानव अपने स्वभाव के आधार पर ही अपने एक संगठित समाज का निमार्ण करता है। ऐसा समाज अमूर्त रूप से मानव के साथ–साथ विकसित एवं परिवर्तित होता रहता है। कुछ दार्शनिक समाज को दैवीय शक्ति की इच्छा द्वारा उत्पन्न होना मानते है। कुछ दार्शनिक ऐसे समाज को मानव के आपसी समझौते का परिणाम मानते है तो कुछ दार्शनिक समाज की उत्पत्ति को विकास का परिणाम मानते है। कुछ दार्शनिक माता–पिता की सत्ता की भावना से उत्पन्न परिवार को समाज की उत्पत्ति का कारण मानते है। समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दर्शनों में दार्शनिकों ने अपने–अपने मत व्यक्त किये है, जिनकी विस्तार से चर्चा इस शोध पत्र में की गई है।

मुख्य शब्दः समाज, मानव, स्वभाव, दर्शन, उत्पत्ति, जगत्, आदर्श, मूल्य, सम्बन्ध।

प्रस्तावना

ज्ञान के प्रति जिज्ञासा ही हमें दर्शन की ओर ले जाती है। दर्शन एक विशेष प्रकार के बोध की अभिलाषा है। दर्शन मानव–स्थिति की विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण विश्लेषण करता है। यह तथ्यों एवं मूल्यों की एक संश्लेषणात्मक व्याख्या है। दर्शन विश्व के स्वरूप से सम्बन्धित विशेष पक्षों की खोज करने के पश्चात्, एक विश्व दृष्टिकोण के विकास का आधार देता है। विश्व दृष्टिकोण को लेकर, अनेक प्रकार की परिभाषाएँ उपलब्ध है, परन्तु उनमें से किसी एक को एकमात्र सत्य मान लेना कठिन है, यद्यपि यह किसी के भावनात्मक औचित्य अथवा तार्किक संगति पर निर्भर है कि वह कहां तक किसी के दार्शनिक विश्लेषण को सही मानता है। यदि किसी दर्शन में प्रभावशीलता एवं कार्य–क्षमता है, जो लोगों के सामाजिक और बौद्धिक जीवन में स्वष्टतः परिलक्षित होती है, तो वह किसी व्यक्ति, समुदाय, किसी समाज में भी परिवर्तन ला सकता है। वे प्रभाव जो किसी दर्शन का निर्माण करते हैं, ऐसे होते हैं जो विश्व की सभ्यताओं में अन्तर ला देते है। अपने दार्शनिक विश्लेषण अथवा विश्व–बोध के अनुकूल सामाजिक उत्थान, सभी दार्शनिकों का शाश्वत लक्ष्य रहा है, क्योंकि जैसा हमें भारतीय विचारधारा में मिलता है कि दर्शन और जीवन में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी का दर्शन कहां तक स्वीकृत हुआ है, यह इस बात पर निर्भर है कि वह दर्शन किस सीमा तक सामाजिक पुनरूत्थान का प्रेरक बना है। दार्शनिक आवृत्ति अथवा उलझाव कुछ लोगों के जिए भावनात्मक स्वार्थपरायणता है, कुछ के लिए तार्किक संगति और बहुत से अन्य लोगों के लिए सामाजिक एवं बौद्धिक विकास का एक कार्यक्रम है। फिर भी सामाजिक उत्थान, किसी भी दर्शन का अनिवार्य तथा मुख्य अंश होता है। वह दर्शन जो किसी भी प्रकार से मानव जीवन को प्रभावित नहीं करता, वह नैतिक दृष्टि से अर्थहीन ही सिद्ध होगा।

इस प्रकार दर्शन इस प्रमाणिकता के बिना कि वह सही है अथवा गलत है, विश्व के सम्बन्ध में एक बोध, समझ और अन्वेषण है। केवल मानव का व्यावहार ही यह बताता है कि वह सही है या गलत है, क्योंकि दर्शन समाज परिवर्तन की एक विधि भी है। इसीलिए दर्शन जनसमुदाय के सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। मानवीय सम्बन्धों में वह परिवर्तन लाता है और मानव को नवीन समाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए उत्साहित करता है। इस प्रकार दर्शन विश्व–बोध और पद्धति दोनों है, जो मानव–अस्तित्व और जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान ढूंढने में संलग्न रहता है। आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक एवं धार्मिक परिवर्तनों सहित, सामाजिक उत्थान अथवा

पुनर्निर्माण दर्शन का अपृथक अंग होता है। सामान्य दृष्टि से दर्शन किसी समाज की स्थितियों को बदलने के लिए, एक विश्वदृष्टिकोण, एक निर्देशन प्रस्तुत करता है। सही कारण है कि दर्शन विश्व–बोध और मानव समाज को परिवर्तित करने का एक साधन भी कहलाता है और यदि दर्शन को किसी आन्दोलन का आधार बनाया जाता है, तो राजनीतिक शब्दावली में वह एक विचारधारा का रूप ग्रहण करके लोगों का मार्ग दर्शन करते हुए आन्दोलन को सही दिशा प्रदान करता है।

साहित्यावलोकन

प्रस्तुत शोध पत्र के पाश्चात्य मत से सम्बन्धित सामग्री हमें डॉ0 रामजी सिंह की पुस्तक '**समाज के मूल तत्त्व**' के पृष्ठ संख्या 132 से 178 पर मिलती है, यह पुस्तक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा वर्ष 1932 में प्रकाशित है। कुछ महत्वपूर्ण सामग्री जे0 एस0 मकेन्जी की पुस्तक 'समाज–दर्शन की रूपरेखा के पृष्ठ संख्या 25 से 39 पर उपलब्ध है, यह पुस्तक 'Out lines of Social Philosophy' का हिन्दी अनुवाद है, जिसके अनुवादक डॉ0 अजीत कुमार सिन्हा जी है, यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से वर्ष 2009 में प्रकाशित है। डॉ0 शिवभानु सिंह जी की पुस्तक ' समाज दर्शन का सर्वेक्षण' के पृष्ठ संख्या 41 से 54 पर अति महत्वपूर्ण समाज से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध है, यह पुस्तक शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद द्वारा वर्ष 2001 में प्रकाशित है। कुछ सामग्री डॉ0 प्रभुदत्त शर्मा की पुस्तक 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स)' के पृष्ठ संख्या 30 से 93 तक तथा पृष्ठ संख्या 212 से 235 तक एवं पृष्ठ संख्या 306 से 361 पर भी उपलब्ध है। यह पुस्तक कॉलेज बुक डिपो, जयपुर से वर्ष 1998 में प्रकाशित है। भारतीय समाज दर्शन की दृष्टि से सामग्री हमें डी0 आर0 जाटव की पुस्तक 'भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ' के पृष्ठ संख्या 9 सें 76 पर उपलब्ध है, यह पुस्तक नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर द्वारा वर्ष 2002 में प्रकाशित है। भारतीय समाज दर्शन से सम्बन्धित अति महत्वपूर्ण सामग्री मुझे प्रो0 गीतारानी अग्रवाल जी की पुस्तक 'भारतीय समाज दर्शन(धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में)' के पृष्ठ संख्या 01 से 40 तक पर उपलब्ध हुयी, यह पुस्तक न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, जवाहर नगर, दिल्ली से वर्ष 2008 में प्रकाशित हयी है। डॉ0 पिताम्बर दास द्वारा लिखित पुस्तक ''दर्शनशास्त्र की शोध प्रविधियाँ'' के पृ0 सं0 88–103 पर भी इस शोध पत्र से सम्बंधित कुछ सामग्री लिखित है, यह पुस्तक शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा वर्ष. 2017 में प्रकाशित है। उपरोक्त पुस्तकों के अलावा सोसल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित 'श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका' के ग्यारहवें अंक, वो03, जुलाई–2016 के अंक में पृ0 सं0 75–83 पर प्रकाशित डॉ0 पिताम्बर दास के द्वारा लिखित शोध पत्र ''भारतीय दर्शन की शोध प्रविधियाँ'' में भी कुछ सामग्री विद्यमान है तथा उक्त फाऊण्डेशन द्वारा प्रकाशित दूसरी पत्रिका '' रिमार्किंग एन ऐनेलाइजेशन'' के नवें अंक, वो0 1, दिसम्बर, 2016 के पृ0 सं0 133–140 पर प्रकाशित डॉ0 पिताम्बर दास जी के शोध पत्र 'समाज दर्शन की पद्धतियां' में भी महत्वपूर्ण लिखित सामग्री उपलब्ध है। उक्त फाऊण्डेशन द्वारा प्रकाशित 'श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका' के वो0 5, अंक 10, जून–2018 के पृ0सं0 58–64 पर डॉ0 पिताम्बरदास जी के शोध पत्र 'मानव स्वभाव की उत्पत्ति : एक दार्शनिक विवेचन' में भी कुछ सामग्री उपलब्ध है।

समाज दर्शन

समाज दर्शन किसी के दार्शनिक बोध के विकास का एक अनिवार्य अंग है। समाज दर्शन मानव समाज का, जो निरन्तर रूप से परिवर्तनशील है, एक विचारयुक्त विश्लेषण है। एक समाज दार्शनिक समाज का अध्ययन दार्शनिक दृष्टि से करता है और मानव समाज तथा सत्ता के मूल स्वरूप के बीच कोई सम्बन्ध अर्थात् कड़ी ढूंढने का प्रयास करता है। दर्शन का वह अंग जो समाज सम्बन्धों का यथार्थ के स्वरूप में अनुकूल अध्ययन करता है, समाज दर्शन कहलाता है। समाज दर्शन विशेष रूप से, मानव की सामाजिक एकता पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और मानव जीवन के विशेष पहलुओं के महत्त्व की व्याख्या, उसी एकता के सन्दर्भ में करता है। इस प्रकार समाज दर्शन मूल्यों, लक्ष्यों तथा आदर्शों के अध्ययन का प्रयास है। समाज दर्शन मानव अस्तित्व के रूपों के अर्थ एवं मूल्यों की खोज करते हुए समाज की एकता को विभिन्न दिशाओं में खोजने का प्रयास करता है। मानवीय समाज एक संगठित रहन–सहन है जिसके अन्तर्गत लोग परस्परिक सम्बन्धों के सहारे, सामाजिक–सांस्कृतिक सीमाओं द्वारा परिभाषित, निगम एवं संस्थाओं रहते हैं। सभी प्राणीयों का अस्तित्व, अनेक प्रकार की शक्तियों की उपज है और सभी मानव पारस्परिक सम्बन्धों में आबद्ध है, जिनके बिना वे जीवित नहीं रह सकते। इन सामाजिक सम्बन्धों का योग ही समाज का निर्माण करता है। समाज एक ऐसा पद है जो व्यक्तियों के बीच सामाजिक सम्बन्ध की पूर्ण व्यवस्था का द्योतक है, चाहे वह सम्बन्ध समुदायों के अन्तर्गत हो या बाहर, समुदायों के बीच हो अथवा व्यक्तियों और समुदायों में हो। समाज दर्शन का प्रमुख विषय इन सम्बन्धों का अध्ययन करना है। यह दृष्टिकोण कि सामाजिक सम्बन्धें के बिना कोई नहीं रह सकता, मानव जीवन एक अनिवार्यता है।

समाज दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करने के एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना अति आवश्यक है कि 'समाज दर्शन एक आदर्शमूलक विज्ञान है अथवा नियामक विज्ञान है या व्यवहारमूलक विज्ञान है। कुछ चिन्तको के अनुसार समाज दर्शन मानव समाज के निर्माण में सहायक होने वाले अनिवार्य, सार्वभौमिक और सतत क्रियाशील नियमों और आदर्शों की खोज करता है, जो समाज के मूल तत्त्व भी होते है। समाज दर्शन ऐसे ही मूल्यों, आदर्शों और नियमों का अध्ययन है। समाजशास्त्र का सम्बन्ध क्या से है, परन्तु समाजशास्त्र के विपरीत समाज दर्शन का सम्बन्ध 'चाहिये' से है, यहि कारण है कि बहुत से विचारक समाज दर्शन को एक आदर्शमूलक अथवा मूल्यात्मक विज्ञान मानते है। समाज दर्शन तो अन्य सभी समाज विज्ञानों से तथ्यों का संग्रह करके सामाजिक सम्बन्धों के नियमों और आदर्शों की स्थापना करता है और

सामाजिक समस्याओं की विवेचना दार्शनिक दृष्टिकोण से करता है। साथ ही अन्य समाज विज्ञानों की समस्याओं की तर्कपूर्ण ढ़ग से समीक्षा करता है, सुलझाता है और उनमें समन्वय स्थापित करता है। इसीलिए समाज दर्शन की प्रवृत्ति को समन्वयात्मक भी कहा जाता है। इस प्रकार समाज दर्शन के दो पक्ष हमारे समाने प्रस्तुत होते हैं– एक आलोचनात्मक तथा दूसरा रचनात्मक। प्रथम पक्ष की दृष्टि से समाज दर्शन सामाजिक सम्बन्धों के परम मूल्यों को ज्ञात करता तथा परम शुभ के आलोक में उनकी आलोचना भी करता है। इसी क्रम में समाज दर्शन को 'मानव समाज और जीवन के तात्विक पक्ष का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना जाता है'। रचनात्मक पक्ष में समाज दर्शन आदर्शों, मूल्यों और परम शुभ के आलोक में विषय में विचारशील चिन्तन करने के साथ ही समाज से सम्बंधित प्राप्त तथ्यों का मूल्यांकन एवं समन्वय करता है। समाज दर्शन के सामने सबसे बड़ी समस्या है कि व्यक्ति एवं समाज के मध्य सम्बन्धें की सुस्पष्ट एवं युक्तिसंगत व्याख्या किस प्रकार की जाये क्योंकि व्यक्ति और समाज के मध्य सम्बन्धों की युक्तिपूर्ण व्याख्या करते समय कुछ मूल्यों व आदर्शों की विवेचना करना अति आवश्यक है। व्यक्ति एवं समाज के मध्य वहीं सम्बंध है जो आत्मा एवं शरीर के मध्य है क्योंकि शरीर आत्मा अथवा ऊर्जा के बिना नहीं चल सकता, इसी प्रकार व्यक्ति समाज के बिना नहीं चल सकता। अतः व्यक्ति एवं समाज कभी अलग–अलग नहीं रह सकते अर्थात् दोनों एक दूसरे के परिपूरक है। व्यक्ति एवं समाज एक दूरे से अलग नहीं हो सकते क्योंकि समाज रूपी संस्था की उत्पत्ति मानव के स्वभाव से ही हुई है।

Philosophical background of Society (Western View)

Greek Philosophy

समाज दर्शन मानव और समाज के विभिन्न सम्बन्धों, विभिन्न सामाजिक क्रिया–कलापों, विविध सामाजिक सिद्धान्तों और सामाजिक गतिविधियों सम्पूर्ण रूप में अध्ययन करता है। समाज की समस्याओं से सम्बंधित प्रश्न एवं उनके समाधान का चिन्तन सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक 'सोफिस्टों' द्वारा प्रारम्भ हुआ। उनका समाज दर्शन व्यावहारिक एवं मानववादी था। प्रसिद्ध सोफिस्ट दार्शनिक प्रोटेगोरस के अनुसार 'मानव ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है'। इन विचारकों ने मानव के महत्त्व को सर्वोपरि रखा। सोफिस्ट विचारकों के बाद यूनान के ही प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपने सामाजिक विचारों में सामाजिक एवं नैतिक प्रश्नों की विवेचना की और सद्‌गुण को ज्ञान तथा दुर्गुण को अज्ञान मानते हुये नैतिकता को अति महत्वपूर्ण स्थान दिया। सुकरात ने 'सदगुण ही ज्ञान है' का प्रतिपादन करते हुए विवेकयुक्त व्यक्तियों को ही आदर्श सामाजिक व्यवस्था का निर्माता माना। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने भी शिक्षा को मानवीय व्यक्तित्व के विकास का अनिवार्य अंग माना है। समाज दर्शन से सम्बन्धित प्रश्नों एवं समस्याओं का विवेचन प्लेटों ने अपने प्रसिद्ध संवाद 'Republic' में किया है। प्लेटो ने इस संवाद में कहा है कि दार्शनिकों को ही राज्य के संचालन का कार्यभार सौंपा जाना चाहियें क्योंकि दार्शनिकों को अच्छे–बुरे, न्याय–अन्याय एवं उचित–अनुचित का सम्यक् ज्ञान रहता है तथा वे पूर्णतया शान्तचित्त और निष्पक्ष होते हैं। Republic में ही प्लेटो ने सर्वप्रथम एक आदर्श राज्य अथवा समाज के विचार प्रस्तुत किये है, जिनमें शिक्षा और ज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। प्लेटो के अनुसार मानव में बुद्धि, साहस एवं संयम तीन प्रकार के स्वभाव होते है। इन स्वभाव के आधार पर ही प्लेटो एक आदर्श समाज के लिए तीन प्रकार के वर्गों शासक, सैनिक एवं उत्पादक की संरचना करते है अर्थात् जिस व्यक्ति में बुद्धि रूपी सद्‌गुण की मात्रा अधिक पाई जायेगी उनसे समाज के शासक वर्ग का निर्माण होगा और जिनमें साहस रूपी सद्‌गुण की मात्रा अधिक होगी ऐसे व्यक्तियों से सैनिक वर्ग का निमार्ण होगा तथा जिन लोगों में संयम रूपी सद्‌गुण अधिक मात्रा में होगा वे समाज के उत्पादक वर्ग का निर्माण करेंगे। इस प्रकार एक आदर्श समाज में तीन वर्ग होंगे–शासक, सैनिक एवं उत्पादक। शासक वर्ग मे से दार्शनिक ही राजा होगा और समाज का संरक्षक बनेगा। सैनिक वर्ग समाज की आन्तरिक एवं वाह्य सुरक्षा का कार्य करेंगे। उत्पादक वर्ग समाज के सदस्यों की आवश्यकताओं से सम्बन्धित वस्तुओं का उत्पादन करेंगे और लोगों की आवश्यकतानुसार वस्तुओं की पूर्ति करेंगे। इसके अलावा प्लेटों अपने इस संवाद में बताया है कि व्यक्ति उस सामाजिक व्यवस्था का प्रतिफल है जिसमें वह विकसित होता है। व्यक्ति एवं समाज में से प्लेटो ने समाज को अत्यधिक महत्व दिया है। प्लेटो ने एक अच्छे समाज के निर्माण के लिए एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार समाज की सभी संस्थाओं को राज्य के अधीन रहना चाहिये। प्लेटो ने एक आदर्श समाज की संरचना में वंशानुगत जाति भेदों को कोई स्थान नहीं दिया है, ताकि अपने व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिये सबको समान अवसर मिल सके। व्यक्ति के स्वभाविक सद्‌गुणों के आधार पर समाज की रचना के विचार को ही प्लेटो ने सामाजिक न्याय कहा है और समाजिक न्याय की धारणा को अत्यधिक महत्व देते हुए, समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए सामाजिक एवं राजनीतिक समानता को अति आश्यक बताया है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने अपने समाज दार्शनिक विचारों में अपने गुरू से भिन्न विचार प्रस्तुत किये है। अरस्तू के अनुसार, ''मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।'' मानव का जन्म किसी न किसी प्रकार के समाज में ही होता है और समाज में ही वह अपना जीवन यापन करता है। मनुष्य समाज से अपने को कभी अलग नही कर सकता और समाज से प्रभावित हुए बिना भी नही रह सकता। समाजिकता सभी मानव स्वभाव का एक अनिवार्य अंग है। मानव समाज से अलग नही रह सकता और अपूर्ण होने के कारण वह अन्य व्यक्ति की आवश्यकता की अनुभूति करता हैं और यही कारण है कि मानव जगत् में परस्पर निर्भरता अथवा परस्पर पूरकता एवं सापेक्षता का सिद्धान्त लागू होता है। बिना एक दूसरे की सहायता के मानव सम्यक रूप से सामाजिक जीवनयापन नहीं कर सकता। मानव की विभिन्न आवश्यकताओं, विभिन्न

इच्छाओं तथा उसके उद्देश्यों की सिद्धि केवल समाज में ही हो सकती है। इसलिए अरस्तू ने माना कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समानता और स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। ऐसे ही समाज में ही अच्छे नागरिकों का निर्माण संभव है। आगे अरस्तू कहते है कि, ''वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रह सकता अथवा जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह स्वयं अपने में पूर्ण है, वह व्यक्ति अवश्य ही या तो पशु है अथवा देवत''। समाज में मानव व्यवहार के परिवर्तन के सम्बन्ध में शिक्षा की भूमिका के बारे में अरस्तू के विचार प्लेटो के विचारों से भिन्न हैं। प्लेटो ने मानव व्यवहार के परिवर्तन के लिए शिक्षा को प्रभावशाली साधन के रूप में स्वीकार किया है परन्तु अरस्तू के अनुसार शिक्षा के द्वारा मानव प्रकृति को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है क्योंकि मानव की जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ ही उसके सामाजिक व्यवहार को निर्धारित एवं सुनिश्चित करती है। मानव का विकास सामाजिक संस्थाओं द्वारा ही संभव है। एक आदर्श राज्य में न्याय की स्थापना अनिवार्य रूप से होती है और ऐसे राज्य के एक सदस्य के रूप में मानव एक अच्छा नागरिक ही सिद्ध होता है। राज्य अथवा समाज ही सर्वश्रेष्ठ समुदाय है जो की सभी नागरिकों का सर्वोच्च हित साधन करता है। राज्य अथवा समाज से बाहर रहकर मनुष्य अपने नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता है।

Medieval Philosophy

जॉन ऑफ सेलिसबरी समाज की जीव–शास्त्रीय व्याख्या करते हुए मध्य युग के प्रमुख दार्शनिक जॉन ऑफ सेलिसबरी ने अपने ग्रन्थ **पॉलिक्रटिक्स** में मानव–आत्मा की तुलना चर्च से तथा सिर की तुलना राज्य के अध्यक्ष से की है। सीनेट को वह हृदय बताता था और प्रान्तों के गर्वनर उस के लिए ऑख, कान, तथा जीभ थे। उनके अनुसार समाज की सेना तथा प्रशासकीय अधिकारी शरीर के हाथ है तो किसान और कारीगर आदि शरीर के पैर हैं। शरीर के समस्त अंगों का समाज अथवा राज्य के अधीन हो ना सिर के गुणों पर आधारित है। यदि सिर अर्थात् सम्राट आत्मा आत्मा अर्थात् चर्च की आज्ञानुसार कार्य करे तभी राज्य अथवा समाज के समस्त अंग सम्राट के अधीन रह सकते हैं। सेलिसबेरी के अनुसार ''शरीर में चर्च की प्रतीक आत्मा होती है। जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है, उसी तरह राज्य अथवा समाज पर चर्च का शासन है। शरार में आत्मा के अनुरूप ही राज्य अथवा समाज में वें चीजें मिलती हैं जो हमारे भीतर धर्म के अधिकारों की स्थापना करती है और ईश्वरोपासना का पाठ पढ़ाती हैं।'' वे आगे बताते है कि वे व्यक्ति जो धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराते है, उतने ही आदरणीय है जितनी की शरीर में आत्मा और जब तक पादरीयों द्वारा राज्यभिषेक नहीं होता तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं बनता। राजा की अधीनता का स्पष्ट प्रमाण यह है कि उसके निर्वाचन में पादरीयों और जन साधारण दोनों का मत रहता है। ईश्वर राजा को प्रशासनिक प्रधान बनाकर संसार में भेजता है और पादरीयों के माध्यम से समस्त प्रजा की स्वीकृति राजा को प्रदान की जाती है। मध्य युग में राज्य एवं समाज दर्शन पर अपने सुव्यवस्थित विचार प्रस्तुत करने पाले प्रथम विचारक के रूप में जॉन ऑफ सेलिसबरी का जाना जाता है।

टॉमस एक्वीनास

मध्य काल के ही दार्शनिक टॉमस एक्वीनास ने मानव प्रकृति के दो रूप मानें–एक सांसारिक और दूसरा आध्यात्मिक। सांसारिक प्रकृति का सम्बन्ध संसार के कार्यकलापों से है और यह सांसारिक दाषों से युक्त होती है। इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रकृति का सम्बन्ध आत्मा या ईश्वरीय जगत् से होता है और यह सांसारिक दोषों से मुक्त होती है। दोष रहित होने के कारण ही आध्यात्मिक प्रकृति मानव–स्वभाव में ईश्वरीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। टॉमस एक्वीनास का सामाजिक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी प्रकृति सम्बन्धी योजना का ही अंग है। प्रकृति की भांति ही समाज भी विभिन्न उद्देश्यों और साधनों की एक व्यवस्था है, जिसमें विभिन्न स्तर के प्राणी रहते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था में छोटा या निम्न प्राणी अपने से बड़े या उच्च प्राणी की सेवा करता है। वह उच्च प्राणी उस निम्न प्राणी को आवश्यक निर्देशन देता है और उसका पथ–प्रदर्शन करता है। अरस्तू के समान एक्वीनास भी मानता है कि समाज श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु की जाने वाली सेवाओं के परस्परिक विनिमय की व्यवस्था है। समाज में विभिन्न व्यक्ति और व्यवसायी अपना सहयोग प्रदान करते है। समाज में प्रत्येक वर्ग अपना–अपना कार्य करता है। एक्वीनास समाज की व्यवस्था में शासक को सबसे महत्वपूर्ण मानते है क्योंकि शासक का होना समाज के हित के लिए बहुत आवश्यक है। जिस तरह आत्मा शरीर पर अथवा उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर शासन करती है, उसी प्रकार शासक वर्ग समाज के अन्य वर्गों पर शासन करता है।

Modern Philosophy

हाब्स ने अपने ग्रन्थ लेवियाथन के 14वें अध्याय में हाब्स ने समाज की उत्पत्ति के तत्त्वों का वर्णन करते हुए बताया है कि आदिकालीन अवस्था में मानव–जीवन की रक्षा के लिए मानव को कुछ स्वतंत्र प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे जो प्रत्येक व्यक्ति में स्वभावतः निहित थे। जैसे व्यक्ति को अपने जीवन–धारण के लिए किसी को लूटने या मार डालने की स्वतंत्रता थी। ऐसे अधिकार को 'शेर का अधिकार' कहा जाता था। परन्तु ऐसे प्राकृतिक अधिकारों के साथ ही कुछ प्राकृतिक नियम भी थे जिनका पालन करने से प्राकृतिक अधिकार–प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति होती थी। हाब्स का मत है कि मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक–दूसरे की हत्या और लूटमार का अधिकार मिल जाता है, जिससे जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। लेकिन सभी व्यक्ति जीवन को सुरक्षित बनाए रखना चाहते है, अतः मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में भी अपनी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ नियम बना लेते है। इन नियमों का पालन करके मनुष्य अराजकता अर्थात् प्राकृतिक अवस्था में भी सुखपूर्वक रह सकते है। हाब्स ने इन नियमों को 'शान्ति की धाराओं' का नाम दिया है। ऐसे ही नियमों के विकास एवं आपसी पालन करने के समझौते के परिणामस्वरूप समाज की उत्पत्ति होती है।

लॉक का मत

लॉक ने अपने गन्थ 'ट्रिटाइज ऑन गोवर्नमेन्ट' में समाज की उत्पत्ति के बारे में बताते हुए कहा है कि प्राकृतिक असुविधाओं से राहत पाने के लिए मनुष्य ने न्यूनतम प्रतिरोध का मार्ग अपनाते हुए एक समझौते के द्वारा समाज का निर्माण किया और सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह समझौता समाज के सभी व्यक्तियों का सभी व्यक्तियों के साथ किया गया। इस प्रकार समझौते का स्वरूप सामाजिक सिद्ध हुआ। अपनी बाधाओं से सम्बंधित कुछ अधिकार व्यक्तियों ने समाज को इसलिए अर्पित कर दिए ताकि उसकी सामूहिक संतुलित बुद्धि से असुविधा सुविधा में बदल जाए। इसी प्रकार समाज का विकास होता गया।

रूसो के अनुसार

रूसो ने अपने ग्रन्थ 'सोसाइटी' में समाज की उत्पत्ति के बारे बताया है कि प्राकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण की अराजकता से जब व्यक्ति दुखी हो गये तब उन्होंने स्वयं को एक ऐसी संस्था में संगठित कर लेने की आवश्यकता अनुभव की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जान–माल की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण बनी रहे। अतः उन्होंने परस्पर मिलकर यह समझौता किया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतंत्रता, अधिकार एवं शक्ति समाज को अर्पित कर दे और सामान्य इच्छा के अनुसार नियमों का निर्माण करके सामान्य रूप से उन नियमों का पालन करे, ये नियम ही विकास की प्रक्रिया में समाज कहलाए।

एडमण्ड बर्क का विचार

एडमण्ड बर्क के अनुसार समाज की उत्पत्ति किसी आकस्मिक घटनावश अथवा समझौते के द्वारा नहीं हुई अपितु समाज का क्रमिक विकास हुआ है। समाज सावयविक रूप से विकास करते हुए अपने वर्तमान स्तर तक पहुँचा है। चूँकि समाज की उत्पत्ति क्रमिक विकास द्वारा ठीक उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार मानव–शरीर का विकास होता है, अतः समाज का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। अति प्राचीन काल में भी वह समाज में संगठित रहा है। हम समाज से बाहर मानव के अस्तित्व की सम्भावना स्वीकार नहीं कर सकते। बर्क ने राज्य एवं समाज के मध्य कोई विभजक रेखा नहीं खींची है। मनुष्य समाज में रहकर ही अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। समाज एक साझेदारी है, जो सभी विज्ञानों में, सभी कलाओं में प्रत्येक सद्गुण में और समस्त पूर्णत्व में होती है।

जे0 एस0 मेकेन्जी का मत

एक आदर्श समाज की स्थापना के लिए मूल्यों, आदर्शों, एवं लक्ष्यों का अध्ययन, अनुसंधान करना समाज दर्शन का एक महत्वपूर्ण कार्य है। आधुनिक समाज दार्शनिक जे0 एस0 मेकेन्जी न अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Outlines of Social Philosophy' में समाज दर्शन का लक्ष्य सामाजिक एकता के नियमों की समीक्षा करते हुए, समाज की व्याख्या करना है। मेकेन्जी ने समाज के आध्यात्मिक एवं नैतिक पक्ष को अति महत्वपूर्ण माना है। हॉब्स, लॉक, रूसों जैसे समाज दार्शनिको ने समाज को सामाजिक समझौते का परिणाम माना है, जिसको मानव अपनी आवश्यकता एवं सुरक्षा की पूर्ति के लिए करता है, इस समझौते के नियम ही समाज के रूप में हमारे सामने आते है। हरबर्ट स्पेन्सर, ऐलेग्जेन्डर, लेजली स्टिीफन जैसे विकासवादी दार्शनिको ने समाज को धीरे–धीरे विकसित मानव स्वभाव के विकास का ही विकास अथवा परिणाम माना है अर्थात् जैसे–जैसे सृष्टि का विकास होता है उसी के साथ–साथ ही समाज का भी मानव स्वभाव के रूप में विकास होता है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल समाज को चेतना के विकास का एक पड़ाव मानते है, जो द्वन्द्वात्मक पद्धति के बल पर विकसित एवं परिवर्तशील अवस्था में रहकर आगे बढ़ता रहता है। समकालीन पाश्चात्य समाज दार्शनिकों में मारिस गिन्सबर्ग ने समाज दर्शन का लक्ष्य मानव व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों की विवेचना माना है। समाज दर्शन सर्वप्रथम सामाजिक आदर्शों की विवेचना करता है और विभिन्न सामाजिक आदर्शों के आधार पर आदर्श समाज का रूप उपस्थित करने का प्रयास करता है। सामाजिक विज्ञानों और समाज दर्शन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों के समन्वय से ही सामाजिक समस्याओं की उचित व्याख्या हो सकती है। बर्टेन्ड रसेल के अनुसार हमें ऐसे समाज की रचना करनी चाहिये, जिसमें मनुष्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों को, मानव प्रेम और सहानुभूति को अधिक से अधिक विकसित होने का अवसर मिले। रसेल के अनुसार हमारी सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक और राजनीतिक संस्थायें सत्ता पर नहीं बल्कि परस्पर सहयोग पर आधारित होनी चाहिये। रसेल ने आधुनिक समय को देखते हुए, उपरोक्त संस्थाओं में भी परिवर्तन की आवश्यकता को माना है। रसेल मानव जीवन को विवेक से अधि कमूल प्रवृत्तियों से प्रेरित स्वीकार करते हैं और आदर्श मानव समाज की रचना के लिए इन मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन को आवश्यक माना है। उपरोक्त विवेचन के आधार पर एक बात सामने आती है कि पश्चिमी विचारकों ने समाज दर्शन से सम्बन्धित समस्याओं की विवेचना को अधिक महत्व दिया है, परन्तु भारतीय विचारकों में ऐसे महत्वपूर्ण विचारक नहीं है जिन्होंने समाज दर्शन की सही रूप से व्याख्या की हो। पश्चिमी विचारको में प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, रूसो, स्पिनोजा, हीगेल, मैकयावली, एडमस्मिथ, कार्लमार्क्स आदि दार्शनिको ने समाज दर्शन के क्षेत्र में अपना विशेष योगदान दिया है।

भारतीय समाज दर्शन

भारतीय दर्शन में भी मन्डन मिश्र, कुमारिल भट्ट, वाचस्पति मिश्र, अप्पय दीक्षित, नागोजी भट्ट आदि दार्शनिकों ने तत्वमीमांसा के अतिरिक्त समाज दर्शन के विचारों का प्रतिपादित करने में अपना–अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके अतिरिक्त शंकर, रामानुज आदि वेदान्तीयों ने श्रीमद्भगवत गीता पर भाष्य लिखकर समाज दर्शन के क्षेत्र में अपना अमूल्य मत प्रकट किया है। वास्तविक रूप में आज समाज दर्शन के क्षेत्र में जिन विचारों, समस्याओं और सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है, उनका अति सूक्ष्म विवेचन प्राचीन भारत के धर्मशास्त्रों,

नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में पहले से ही व्यवस्थित एवं सम्पूर्ण रूप से करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि प्राचीन भारत में समाज दर्शन नामक ज्ञान की शाखा नहीं थी, परन्तु दण्डनीति, वार्ता, अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक सिद्धान्तों के विविध पक्षों का विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के चारों वेद अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्वेद मानव जीवन एवं उसके समाज की व्यवस्था के संचालन के सबसे सशक्त दस्तावेज है, जिनमें मानव एवं समाज के सभी महत्वपूर्ण पक्षों का विवेचन बड़े ही विस्तार एवं व्यवस्थित रूप से किया गया है। प्राचीन भारत की वर्णाश्रम व्यवस्था के मुख्य आधार ये चारों वेद ही है। समाज में रहने वाले मनुष्यों के चार वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का विभाजन मनुष्य के गुण, कर्म एवं स्वभाव के आधार पर किया गया है तथा मनुष्य जीवन की औसत आयु 100 वर्ष मानकर उसके जीवन के सफल संचालन हेतु चार आश्रम बताये गये है अर्थात् मनुष्य समाज में आरम्भिक 01 से 25 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहेगा, जिसमें वह ब्रह्मचर्य जीवन का पालन करते हुए अपनी शिक्षा–दीक्षा पूर्ण करता है। 25 से 50 वर्ष की आयु में वह विवाह संस्कार के बाद गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके वह पंचमहायज्ञ सम्पन्न करेगा और तीन ऋणों से अपने को मुक्त करेगा। 50 से 75 वर्ष के अन्तर्गत मनुष्य गृहस्थी का कार्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर वन की ओर गमन करेगा अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम में रहेगा और अन्तिम संन्यास आश्रम है जिसकी आयु 75 से 100 वर्ष है जिसमें वह एकाग्रचित्त होकर, घर–गृहस्थी से दूर रहकर साधना एवं तपस्या में लीन रहकर मोक्ष के प्रयास करेगा और मुक्ति को प्राप्त करेगा। ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में वर्णित इस चारों वर्णों की सामाजिक व्यवस्था प्रायः सभी धर्मशास्त्रों ने माना है और निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय समाज दर्शन के दार्शनिक समाज के सम्बन्ध में सावयवी सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते थे अर्थात् समाज के सभी अंग एक पूर्ण इकाई के अवयव है और समाज में अंग एवं अंगी का सम्बन्ध है। अतः मानव समाज निरपेक्ष, स्वतंत्र और एकाकी नहीं है। समाज सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक अंग है और इस समाज के समान ही इस ब्रह्माण्ड के अनेक और अंग भी है जैसे धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि संस्थायें। इन सभी अंगो में परस्पर सहयोग, सहकारिता, सह–अस्तित्त्व, सापेक्षता एवं परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध पाया जाता है। भारतीय चिन्तन में समाज की उत्पत्ति को जो दैवी सिद्धान्त का वर्णन मिलता है, उसको देखने से लगता है कि उस समय के चिन्तक इस बात को किसी न किसी रूप स्वीकार करते थे कि राजा की उत्पत्ति के पूर्व समाज की व्यवस्था सुदृढ़ नहीं थी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' अथवा जंगल का नियम ही समाज का प्रमुख नियम था। राजा की उत्पत्ति के बाद धीरे–धीरे समाजिक संस्थाओं का संगठन सुदृढ़ हुआ और व्यवस्थित समाज की स्थिति आयी।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति के चतुर्युग विधान अर्थात् सत्युग, त्रेता, द्वापर और कलियुग तथा इनके चक्रीय परिवर्तन की मान्यता को देखने से लगता है कि भारतीय दर्शन के समाज चिन्तक यह स्वीकार करते है कि सामाजिक व्यवस्था पूर्ण अर्घ एवं अल्प नैतिकता की ओर होते हुए अनैतिकता की ओर जाती है और पुनः परिवर्तित होकर पूर्ण नैतिकता की ओर अग्रसर होती है। महाभारत के शान्ति पर्व में भी एक आदर्श समाजिक व्यवस्था का वर्णन मिलता है जिसमें एक ऐसे समाज का वर्णन है जिसमें न कोई राजा था, न कोई शासक, न कोई नियम, न कोई कानून और न ही कोई दण्डव्यवस्था। केवल एक सार्वभौम मान्यता थी जिसे धर्म कहा जाता था, जिसके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही कर्त्तव्यों का पालन करता था और अपने अधिकार के क्षेत्र में ही रहता था। ऐसे समाज में किसी भी प्रकार का आपसी संघर्ष और प्रतिस्पर्धा नहीं थी और न कोई भय एवं आतंक था। धर्म के द्वारा ही प्रजा एक दूसरे का रक्षण एवं पालन पोषण करती थी। उपरोक्त आधार पर यदि विचार किया जाये तो लगता है कि ऐसे आदर्श समाज की व्यवस्था बहुत अधिक प्रमाणित नहीं लगती परन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतीय समाज के चिन्तक एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना लेकर चलते थे, जिसमें मनुष्य अपनी पूर्ण स्वतंत्रता का लाभ उठाता होगा और दूसरे स्वतंत्रता में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता होगा। अतः तत्कालीन मनुष्य को किसी भी प्रकार के दण्ड एवं शासक की आवश्यकता नहीं रहीं होगी। इसके अलावा महाभारत एवं मनुस्मृति में एक और समाज की विवेचना मिलती है जिसमे बताया गया है कि एक समय ऐसा था, जब सामाजिक व्यवस्था में न्याय, सत्य जैसे गुण पूरी तरह से क्षीण हो चुके थे और समाज की स्थिति 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के मत्स्य न्याय के नियम से कार्यान्वित हो रही थी, तब सभी मनुष्य मिलकर ब्रह्मा के पास गये और ब्रह्मा से समाज की इस चिन्ताजनक स्थिति का वर्णन किया तो ब्रह्मा ने उन्हें शासक के रूप में अथवा धर्म के व्यवस्थापक के रूप में राजा दिया। कुछ दार्शनिक इस सन्दर्भ में यह निष्कर्ष निकालते है कि यह एक प्राकर का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त है, परन्तु मेरी दृष्टि में यह प्रसंग सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की अपेक्षा समाज की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त के अधिक समीप लगता है। (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 59, मनुस्मृति, 7.3)

भारतीय समाज दर्शन का विकास स्वंय में एक विचित्र कहानी है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं का उदय हुआ। इसकी सामाजिक प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के विश्वासों, रीति–रिवाजों, संस्थाओं, धर्मों तथा दर्शनों का विकास हुआ, जिनका सम्बन्ध समाज के विकास के विभिन्न स्तरों से था। वैसे भारतीय समाज दर्शन की प्रक्रिया में वर्णों, जातियों तथा पंथो का जमघट बना रहा है, फिर भी उसमें एक ऐसी निरन्तरता, विभिन्नता में एकता है, जो अन्यत्र देखने को नही मिलती और कुछ विचार हानिकारक होते हुए भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है। प्रारम्भ से ही भारतीय समाज दर्शन का

विकास, अत्यन्त जटिल एवं पेचीदा रहा है। सामाजिक जीवन के सिद्धान्त एवं व्यवहार में बड़ा भारी अन्तर रहा है। समाज में सदैव बड़े–बडे दो समुदाय रहे है जिनमें एक ऊंचा और दूसरा नीचा है और उच्च समुदाय की संख्या सदैव कम रही है, परन्तु सामाजिक नियतिवाद की परिधि में, कम संख्या वाले लोगों का विचारों एवं संस्था के क्षेत्र में प्रायः आधिपत्य बना रहा। तथाकथित निम्न समुदाय के लोगों की संख्या बहुत थी और उसमें अनेक प्रकार के जन–समुदाय भी सम्मिलित थे परन्तु फिर भी इन लोगों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृकि अधिकारों से वंचित रखा गया। इसी प्रकार के अलगाव ने भारतीय समाज चिन्तन के विकास की प्रगति को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया और यही कारण है कि भारतीय समाज में अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याएं पैदा हुई, जिनका समुचित समाधान आज तक नहीं हो पाया है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शनों की दृष्टि से समाज की उत्पत्ति के महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालना है और दोनों मतों की विवेचना करते हुए यह बताना है दोनों मतों में समाज की उत्पत्ति की व्याख्या का दृष्टिकोण वैसे तो अलग– अलग दिखाई पड़ता है परन्तु दोनों मतों में समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी न किसी रूप में मानव स्वभाव को ही केन्द्र माना गया है। दोनों मतों में समाज के आदर्श एवं मूल्य लगभग एक समान ही है। दोनों मतों में समाज जैसी संस्था का लक्ष्य मानव जीवन की सुरक्षा एवं जीवन को अनुशासित करना है और मानव की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना है।

निष्कर्ष

समाज एक ऐसा प्रत्यय एवं संस्था है, जिसकी उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। विभिन्न समय के मानवशास्त्री, समाजशास्त्रीयों एवं दार्शनिकों ने समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने–अपने विचार प्रस्तुत किए है, परन्तु किसी के भी विचार को पूर्णरूपेण संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कह जा सकता है कि सभ्यता के विकास के साथ–साथ जैसे–जैसे मानव के विचारों में परिपक्वता आती गयी वैसे–वैसे समाज का स्वरूप भी बदलता गया है। समाज की संस्थाओं में तो हमे क्रान्तिकारी परिवर्तन देखने को मिलते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *डॉ0 शिवभानु सिंह, समाज दर्शन का सर्वेक्षण, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, वर्ष–2001*
2. *डॉ0 रामनाथ शर्मा, समाज दर्शन, केदारनाथ रामनाथ एण्ड क0, मेरठ, वर्ष–1998*
3. *डॉ0 बी0 एन0 सिन्हा, समाज दर्शन–सामाजिक व राजनीतिक दर्शन, सपना अशोक प्रकाशन, रामनगर, वाराणसी।*
4. *राहुल सांकृत्यायन, मानव–समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष–2012*
5. *जे0 एस0 मेकेन्जी, समाज–दर्शन की रूपरेखा, रूपान्तरकार, डॉ0 अजीत कुमार सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, वर्ष–1962*
6. *संगम लाल पाण्डेय, समाज दर्शन की एक प्रणाली, इलाहाबाद।*
7. *डॉ0 रामजी सिंह, समाजदर्शन के मूल तत्त्व, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983*
8. *डी0 आर0 जाटव, भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, वर्ष–2002*
9. *डॉ0 पिताम्बरदास, सामाजिक पुनर्निर्माण में डॉ0 भगवानदास के धर्म–दर्शन का योगदान, विश्वज्ञान अध्ययन संस्थान एवं अंकित प्रकाशन, मडॉव, रोहनिया, वाराणसी, वर्ष–2014*
10. *प्रो0 अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, वर्ष–2006*
11. *जगदीशसहाय श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष–2002*
12. *डॉ0 प्रभुदत्त शर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (प्लेटो से मार्क्स),*
13. *गीतारानी अग्रवाल : भारतीय समाज दर्शन (धर्मशास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में), न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, जवाहर नगर, दिल्ली, वर्ष–2008.*
14. *डॉ0 राधाकृष्णन : धर्म और समाज दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, वर्ष–1960.*
15. *सुरेन्द्र मित्तल, समाज और राज्य भारतीय विचार, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, उ0 प्र0.*
16. *डॉ0 पिताम्बर दास : भारतीय दर्शन की शोध प्रविधियाँ, शोध पत्र, अंक–11, वो0 3, जुलाई–2016, पृष्ठ संख्या 75–83, श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका (अन्तर्विषयिक अन्तराष्ट्रीय, सन्दर्भित, पीर रिव्यू, शोध पत्रिका), सोशल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित।*
17. *डॉ0 पिताम्बर दास : समाज दर्शन की पद्धतियां, शोध पत्र, अंक–9, वो0 1, दिसम्बर 2016, पृ0सं0 133–140, रिमार्किंग एन ऐनेलाइजेशन (अन्तर्विषयिक अन्तराष्ट्रीय, सन्दर्भित, पीर रिव्यू, शोध पत्रिका), सोशल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित।*
18. *डॉ0 पिताम्बर दास : मानव स्वभाव की उत्पत्ति : एक दार्शनिक विवेचन, शोध पत्र, अंक –10, वो0 5, जून–2018, पृ0सं0 58–64, श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका, (अन्तर्विषयिक अन्तराष्ट्रीय, सन्दर्भित, पीर रिव्यू, शोध पत्रिका), सोशल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित।*